International Journal of Academic Research and Development
ISSN: 2455-4197
Impact Factor: RJIF 5.22
www.academicsjournal.com
Volume 2; Issue 5; September 2017; Page No. 945-946

स्त्री जीवन : दशा एवं दिशा

निशा वर्मा
शोधार्थी, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू और कश्मीर, भारत।

सरांश
स्त्री पुरुष समाज के दो अभिन्न अंग हैं। समाज के विकास में पुरुषों की तरह ही स्त्री ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया लेकिन फिर भी स्त्री को पुरुष से कम ही आंका जाता है।
उसे दोयम दर्जे का स्थान दिया जाता है। जिसका मुख्य कारण वर्गीय समाज में जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों का आधिपत्य होना है। पितृसत्त ने न सिर्फ समाज पर बल्कि स्त्री की सोच व उसके दिमाग पर भी अपना आधिपत्य जमा लिया है। परम्परागत भारतीय समाज में स्त्री का कार्य क्षेत्र गृहस्थी रहा है। इस गृहस्थ जीवन में नारी को सदैव पुरुष के अधीन रहना पड़ा है पारिवारिक जीवन में सम्पत्ति पर पूरा अधिकार घर के मुखिया यानि पुरुष का होता है। जन्म लेते ही स्त्री के साथ भेदभाव शुरू हो जाता है। एक ओर तो उसे नवरात्रों में देवी बनाकर पूजा जाता है। वहीं दूसरी ओर उसके साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है पितृसत्तात्मक हमारे इस भारतीय समाज की मानसिकता स्त्री को देह तक ही सीमित रखती पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में स्त्री का सुन्दर होना ही आवश्यक माना जाता है। स्त्री क्या पहनेकेसे चले केसे बात करे। इसका निर्णय पुरुष प्रधान समाज ही करता है। विज्ञापनों व फिल्मों आदि में भी स्त्री को मात्र एक देह के रूप में प्रयोग किया जाता है। आज स्त्री एक वस्तु में बदल दी गई है। पुंसवादी व्यवस्था में पुरुष का दर्जा स्त्री से ऊँचा है। वह उसका स्वामी है। पितृसत्ता की यह मान्यता है कि स्त्री को पुरुष के अधीन रहना चाहिए। समाज में जो भी नियम व मान्यताएं निर्मित हुई हैं वह सब पुरुषवादी सोच के अनुसार निर्मित हुई हैं।

मूल शब्द : तिरस्कार, परम्परागत, भेदपूर्ण, पुंसवादी, मानसिकता, पितृसत्ता।

प्रस्तावना

भारतीय समाज में औरत ही एक ऐसी हस्ती है, जिसका भाग्य संस्कृतियों, वर्गों और धर्मों में व्यापक अंतर और भेद होने के बावजूद हर जगह एक जैसा ही रहता है। लगातार तिरस्कार और अपमान जैसे उसकी नियति है। समाज के विकास में पुरुषों की तरह ही स्त्री ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है लेकिन फिर भी स्त्री को पुरुष से कमत्तर ही आंका जाता है। उसे दोयम दर्जे का ही स्थान दिया जाता है। जिसका प्रमुख कारण वर्गीय समाज में जीवन के समस्त क्षेत्रों में पुरुषों का अधिपत्य होना है। आज पितृसत्ता ने न सिर्फ समाज पर बल्कि हमारी सोच हमारे दिमाग पर भी अपना अधिकार जमा रखा है।

परम्परागत भारतीय समाज में स्त्री का कार्य–क्षेत्र, गृहस्थी रहा है और इस गृहस्थ्य जीवन में नारी को सदैव पुरुष के अधीन रहना पड़ा है। हिन्दू मान्यताओं में नारी को पूजनीय मानने की धारणाएँ पाई जाती हैं किंतु ये धाराएँ दार्शनिक विचार मात्र प्रतीत होती हैं। माता, पत्नी, बहन, पुत्री आदि सभी रूपों में स्त्रियों को पुरुषों के संरक्षण में रहने का विचार भी मिलता है। जो केवल इतना ही अभिव्यक्त नहीं करता कि स्त्रियाँ अबला हैं बल्कि यह भी दर्शाता है कि स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन हैं। लड़की के जन्म लेते ही उसके साथ भेदभाव शुरू हो जाता है। एक ओर तो जहाँ उसे नवरात्रों में देवी के रूप में पूजा जाता है वहीं दूसरी ओर वह समाज के घिनौने रूप का भी शिकार होते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में पुत्र चाहे बड़ा होकर शराबी, या जुआरी बने तक भी उसे ही श्रेष्ठ समझा जाता है और कन्या चाहे कितनी भी विदुषी क्यों न हो उसे हीन ही माना जाता है।

परिवार में बचपन से ही लड़के और लड़की को भेदपूर्ण संस्कार दिये जाते हैं। लड़की को बार–बार यह अहसास दिलाया जाता है कि वह लड़की है, कमज़ोर है। उसे तथाकथित सामाजिक मर्यादाओं में रखने का प्रयास किया जाता है। बेटा जहाँ गर्भ में आते ही सम्पत्ति का हकदार बन जाता है वहीं लड़की सबसे पहले गर्भ में ही अपने लिए जगह ढूँढ़ती है। ''पितृसत्ता अपनी सम्पत्ति अपने पुत्रों के लिए सुरक्षित रखना चाहती है। पुरुष यह मानकर चलते हैं कि उनका नाम, वंश, परिवार, व्यापार, कृषि, ज़मीन जायदाद और पूँजी के असली उत्तराधिकारी बेटे ही होंगे।''[1]

पितृसत्तात्मक भारतीय समाज की मानसिकता स्त्री को देह तक ही सीमित रखती है। पुसंवादी व्यवस्था में स्त्री का सुन्दर होना ही सर्वगुण सम्पन्न माना जाता है। स्त्री का परिचय उसकी शक्ल सूरत के मूल्यांकन के बिना पूरा नहीं होता है। हर जगह स्त्री का वस्तुकरण हो चुका है। विज्ञापन, मॉडलिंग आदि के द्वारा स्त्री देह का शोषण हो रहा है। आज स्त्री मात्र एक वस्तु के रूप में बदल चुकी है। नारी की सबसे बड़ी विवशता उसकी आर्थिक पराधीनता है। अर्थ–व्यवस्था में भागीदारी व्यक्ति को प्रभुत्व सम्पन्नता देता है लेकिन उपलब्ध व्यवस्था स्त्री की अर्थ में भागीदारी एवं उसकी सम्भावना न्यूनतम करती है। अरविन्द जैन लिखते हैं कि, ''पुरुषों के बराबर आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष लगेंगे। दुनिया की 98 प्रतिशत पूँजी पर पुरुषों का कब्जा है।''[2] आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी राजनीति में स्त्रियों की भागीदारी बहुत कम है। राजनीति में भाग लेने को लेकर कभी खुद स्त्रियों के मन में दुविधा उठ खड़ी होती है तो कभी, समाज के बंदिशें उन्हे रोक लेती है। राजनीतिक दल भी एक महिला उम्मीदवार की अपेक्षा पुरुष उम्मीदवार को समर्थन करने के इच्छुक रहते हैं। स्त्रियों का राजनीति में भाग लेने के लिए घर से बाहर निकलना परिवार और संस्कृति के नष्ट होने से जोड़ा जाता है।

मानव जाति की आधी आबादी स्त्री है और इस आधी आबादी की

हालत दबी–कुचली और पिछड़ी हुई है। स्त्री की ऐसी स्थिति का सबसे बड़ा कारण धर्म भी है। धर्म के नाम पर सदियों से स्त्री का शोषण किया जा रहा है। ''धर्म शास्त्रों और स्मृतियों के रचयिताओं ने स्त्री को नीच, दुष्ट, दुराचारी, नर्क का द्वार आदि कह कर उसे पुरुष का गुलाम बने रहने पर बाध्य किया है।''[3] धार्मिक संस्थानों में आज भी स्त्रियाँ बहिष्कृत है। उन्हें पादरी का पुजारी बनने का अधिकार नहीं है। हिन्दूओं के अनेक ऐसे मंदिर हैं जहाँ स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध हैं

पुरुष का दर्जा स्त्री से ऊँचा है। वह स्त्री का स्वामी है, मालिक है। पितृसत्तात्मक समाज की यह मान्यता है कि स्त्रियों को पुरुषों के अधीन रहना चाहिए। यह विचारधारा औरतों को पुरुषों की निजी सम्पत्ति का हिस्सा मानती है। यहाँ तक कि स्त्री के शरीर पर भी पुरुष का हक माना जाता है। पितृसत्तात्मक भारतीय समाज ने स्त्री देह पर स्वामित्व के लिए विवाह संस्था की स्थापना की। पुरुषवादी मानसिकता विवाह के लिए दोहरे मानदण्डों को लेकर चलती है। विवाह पूर्ण सम्बन्ध पुरुष के लिए क्षम्य है परन्तु स्त्री के लिए यही विवाहपूर्ण सम्बन्ध अक्षम्य है। जो स्त्री विवाह नहीं करती उसे शंका एवं हीन दृष्टि से देखा जाता है। समाज में उसे वह सम्मान प्राप्त नहीं होता जो एक विवाहित स्त्री को प्राप्त होता है।

अतः समाज में जो भी नियम, कायदे, मान्यताएँ आदि निर्मित हुई वह सब पुरुषवादी सोच के अनुसार निर्मित हुई हैं। जिसने नारी को एक दोयम दर्जे की स्थिति पर पहुँचा दिया है। समाज उसी स्त्री को अच्छी पत्नी, माँ, बहन व गृहिणी मानता है जो पितृसत्ता के रीतिरिवाज़ों, परम्पराओं को बिना कोई सवाल उठाए आँखें मूँदकर मानती रहे। समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए स्त्री और पुरुष के कुछ अधिकार एवं कर्त्तव्य होते हैं किन्तु ''हमारे यहाँ जितनी भी अधिकार हैं वे पुरुषों के हैं जितने भी कर्त्तव्य वह सब स्त्रियों के।''[4] परिवार और समाज का पूरा ढाँचा इसी अधिकार और त्याग पर आधारित है।

संदर्भ

1. अरविन्द जैन, न्यायक्षेत्रे– अन्यायक्षेत्र, पृ. 260।
2. वही, पृ. 258।
3. आर.पी.सिंह बबल, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पृ. 121।
4. क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्ष, पृ. 50।